The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 24-06-16

A material change

The push to boost jobs and growth in the textiles sector is a belated step in the right direction

The NDA government's announcement of a special package, worth Rs 6,000 crore, for the textiles and apparel sector is welcome. The government hopes to create one crore new jobs in three years and attract investments of $11 billion, while generating $30 billion in exports. It is hard to say how many of these targets will be met yet the measures are a step in the right direction. Trouble is, however, that most of what is being done today may be almost two decades too late. The story of the Indian textiles industry is one where a whole generation's well-being was compromised through misguided policy. In the misplaced bid to retain the small-scale character of traditional handlooms, Indian policymakers ruled out fast domestic industrial expansion — all garments, they mandated, must remain within the so-called small scale sector. So as the world, and especially India's competitors such as China, Vietnam, and later on Bangladesh, built up massive capacities to meet global demand, India was stuck with debilitating rules and regulations. By 2005, when trade quotas were relaxed, India was in no shape to take advantage of freer trading norms. It is no surprise then that as against India's share of 3.1 per cent in the global garment industry, China's is around 35 per cent and even Bangladesh has 60 per cent more share than India.

The package announced on Wednesday does away with a lot of red tape to reduce costs, both in terms of time and money, and would enable Indian manufacturers to

improve competitiveness. Enabling measures include additional incentives for duty drawback schemes for garments, flexibility in labour laws to increase productivity as well as tax and production incentives for job creation in garment manufacturing. There are changes which allow those earning less than Rs 15,000 to forgo the employees provident fund. This would leave people with more disposable income. Further, to bring down the costs for businesses, the government has also pitched in to pay the employer's contribution to the EPF in other cases.

While these measures will help, far more needs to be done if India wants to corner a large part of the market share that China may relinquish. China, like most countries before it such as Japan or Korea, has reached a stage where factor costs have increased and this is forcing it to opt for more technology-intensive methods. India, with labour costs still low, has a decade in hand, at best. India must quickly improve its infrastructure — ports, roads, electricity — to ensure that these new measures come to fruition.

Date: 24-06-16

अब खेत पाठशाला

कृषि क्षेत्र की योजनाओं को निचले स्तर तक पहुंचाने के लिए केंद्र सरकार ने राज्यों से खेत पाठशाला लगाने को कहा है। किसानों से फेसबुक पर सीधे मुखातिब केंद्रीय कृषि मंत्री राधामोहन सिंह ने यह जानकारी दी। यकीनन यह उम्दा फैसला है। विडम्बना ही तो है कि कृषि प्रधान देश कहे जाते रहे भारत के किसान आरंभ से ही विपरीत हालात से त्रस्त रहे हैं। वे फसल बर्बाद होने और कर्ज की गिरफ्त में आ जाने के चलते आत्महत्या तक करने को मजबूर हैं। और यह स्थिति तब है कि जबकि देश में हरित क्रांति आए लंबा अरसा बीत चुका है। हालांकि हरित

क्रांति देश के कुछेक राज्यों तक ही सीमित रही। उसमें कुछ कमियां भी रहीं। देश अब दूसरी हरित क्रांति की तैयारी में है। देश पूर्वी हिस्से के राज्यों, प. बंगाल, झारखंड और बिहार पर इस प्रयास के तहत तवज्जो दी जाएगी। इस बार सरकार पूरी तरह से सजग है कि कोई कमी न रहने पाए। कोशिश में रहेगी कि कृषि क्षेत्रकी योजनाओं को निचले स्तर तक पहुंचाने में कोईकमी न रहने पाए। इसी कड़ी में राज्यों से ''खेत पाठशाला' लगाने को कहा गया है। दरअसल, उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राज्यों में किसानों तक केंद्रीय योजनाओं की जानकारी नहीं पहुंच पा रही। यकीनन यह राज्यों की विफलता है, लेकिन केंद्र सरकार भी हाथपर हाथधरे बैठे नहीं रह सकती। उसे ध्यान में रखना होगा कि राज्यों में ग्राम स्तर पर किसान सहायक, किसान मित्र और पंचायत, ब्लॉक, तहसील से लेकर जिला स्तर तक कृषि कर्मचारियों और अधिकारियों की जो पूरी फौज नियुक्त है, उसका अच्छे से इस्तेमाल किया जाए। इस सरकारी अमले का उपयोगी इस्तेमाल किया जाता है तो यकीनन खेती-किसानी के हालात में अभूतपूर्व सुखद बदलाव आ सकता है। खेत पाठशाला इस लिहाज से सार्थक भूमिका निभा सकती हैं। कहना न होगा कि किसी देश के किसान उन्नत और जागरूक हों तो उसके आर्थिक विकास की राह आसान हो जाती है। खेत पाठशाला कृषि संबंधी जानकारियां किसानों तक पहुंचाने के साथ ही सामाजिक माहौल में बेहतरी लाने का सबब भी बन सकती हैं। हालांकि अभी इस दृष्टि से शायद सोचा नहीं जा रहा हो लेकिन इस संभावना को भी आने वाले समय में खंगाला जा सकता है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 24-06-16

शिक्षा को चाहिए नया विमर्श

हरिवंश चतुर्वेदी

नई शिक्षा नीति के प्रारूप को तैयार करने के लिए गठित टीएसआर सुब्रमण्यम कमेटी की रिपोर्ट पर मीडिया में हल्की-सी चर्चा जरूर हुई है, किंतु अभी तक इस पर राष्ट्रीय बहस नहीं हो पाई है। नई शिक्षा नीति 24 वर्षों के बाद फिर तय की जा रही है, इस पर गहराई से विचार जरूरी है।

सुब्रमण्यम कमेटी ने स्कूली शिक्षा, उच्च शिक्षा व शिक्षा से जुड़ी नियामक संस्थाओं के भविष्य पर 90 बुनियादी सुझाव दिए हैं। देश के 765 विश्वविद्यालयों और 40 हजार कॉलेजों में पढ़ रहे 3.3 करोड़ विद्यार्थियों और आठ लाख प्राध्यापकों को यह जानना जरूरी है कि आखिर उच्च शिक्षा में अपेक्षित व्यापक सुधारों के लिए इस कमेटी की सिफारिशें कितनी तार्किक और व्यावहारिक हैं? क्या ये देश की उच्च शिक्षा में व्याप्त उद्देश्यहीनता, निराशा, अराजकता, भ्रष्टाचार और कर्तव्यहीनता पर लगाम लगाकर उसे अगले दो-तीन दशकों की जरूरतों के अनुरूप नई दिशा दे पाएंगी? क्या उच्च शिक्षा से जुड़ी हमारी नौकरशाही और शिक्षक समाज सुझाए गए व्यापक परिवर्तनों के लिए मानसिक रूप से तैयार हैं?

केंद्र और राज्य सरकार, दोनों को शिक्षा पर कानून बनाने व उसके नियमन का अधिकार है, क्योंकि 1976 के एक संविधान संशोधन में शिक्षा को समवर्ती सूची में डाल दिया गया था। कमेटी की राय है कि यद्यपि एक दर्जन से अधिक नियामक संस्थाओं, जैसे यूजीसी, एआईसीटीई, एनसीटीई, एमसीआई आदि के कामकाज के लिए अलग कानून हैं, किंतु राष्ट्रीय स्तर पर कोई एक कानून नहीं है, जो उच्च शिक्षा के प्रबंधन व नियमन की दिशा बताता हो। नई शिक्षा नीति के प्रारूप में कहा गया है कि उच्च शिक्षा के प्रबंधन, संवद्र्धन और प्रोत्साहन को कानूनी ढांचा देने के लिए नेशनल हायर एजुकेशन प्रमोशन ऐंड मैनेजमेंट ऐक्ट बनाया जाएगा। जब तक इससे संबंधित विधेयक पारित नहीं होता, मौजूदा कानून जारी रहेंगे। प्रस्तावित कानून के तहत केंद्रीय स्तर पर भारतीय उच्च शिक्षा नियमन अभिकरण और राज्य स्तर पर उच्च शिक्षा परिषदों के गठन का सुझाव दिया गया है। नए कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों की मान्यता का काम राज्य उच्च शिक्षा परिषदों द्वारा राष्ट्रीय परिषद के निर्धारित मानकों के अनुसार किया जाएगा।

समाज के वंचित तबकों के युवाओं को उच्च शिक्षा कैसे मिले, इस पर भी कमेटी ने विचार किया है। अभी तक यूजीसी हर साल पीएचडी करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर 35,000 फेलोशिप देती रही है, जिससे करीब 82,000 शोधकर्ता लाभान्वित होते हैं। यूजीसी इस पर अभी प्रतिवर्ष 1,050 करोड़ रुपये खर्च करती है। सुब्रमण्यम कमेटी ने आर्थिक रूप से विपन्न वर्गों के 10 लाख युवाओं को छात्रवृत्ति देने के लिए राष्ट्रीय उच्च शिक्षा कोष स्थापित करने का सुझाव दिया है। इस छात्रवृत्ति द्वारा वंचित व गरीब तबकों के युवाओं की फीस, किताबों व रहन-सहन के खर्च को पूरा करने के लिए जरूरी वित्तीय सहायता दी जाएगी। राष्ट्रीय उच्च

शिक्षा छात्रवृत्ति कोष को सरकार, कॉरपोरेट सेक्टर, अलुमनाई और धनी व्यक्ति वित्तीय अनुदान प्रदान करेंगे।

हमारी उच्च शिक्षा की एक समस्या यह है कि ज्यादातर विद्यार्थी राज्यों के सरकारी विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं। देश में ऐसे 329 विश्वविद्यालय हैं, जहां पर पांच से 10 लाख विद्यार्थी प्रवेश लेते हैं और संबद्ध कॉलेजों की संख्या 500 से 1,000 तक होती है। सुब्रमण्यम कमेटी ने कहा है कि संबद्ध कॉलेजों की संख्या 100 से ज्यादा नहीं होनी चाहिए। जिन विश्वविद्यालयों में 100 से ज्यादा संबद्ध कॉलेज हों, उन्हें नए विश्वविद्यालय बनाकर बांट देना चाहिए। कुलपतियों की नियुक्ति पर कमेटी ने कहा है कि केंद्र व राज्य सरकारों को कुलपतियों की मेरिट आधारित नियुक्ति के लिए संयुक्त रूप से एक नया मॉडल बनाना चाहिए। कमेटी ने विश्वविद्यालयों में शिक्षकों की गंभीर कमी, शिक्षकों की नियुक्ति में तदर्थतावाद, देरी, भ्रष्टाचार व भाई-भतीजावाद पर भी तीखी टिप्पणी की है। राज्य स्तर पर कॉलेज शिक्षकों की भर्ती में होने वाली शर्मनाक 'खुली नीलामी' पर रोक लगाने के लिए कमेटी ने लोक सेवा आयोग या अन्य किसी स्वायत्त संस्था को शिक्षकों की भर्ती का काम सौंपने का सुझाव दिया है।
कमेटी ने कहा है कि स्नातक स्तर पर पढ़ाने के लिए पीएचडी की कोई अनिवार्यता नहीं होनी चाहिए, बल्कि इन शिक्षकों को सूचना प्रौद्योगिकी और संप्रेषण कला में प्रशिक्षित करना चाहिए। कमेटी ने तदर्थ व अतिथि प्राध्यापकों पर अत्यधिक निर्भरता की तीखी आलोचना की है। उसका कहना है कि हर राज्य को समय रहते प्राध्यापकों की भर्ती का कार्य शुरू करके हर कॉलेज में प्राध्यापकों की पर्याप्त संख्या सुनिश्चित करनी चाहिए। कई राज्यों में राजकीय कॉलेजों के प्राध्यापकों का ट्रांसफर होता रहता है, जो नितांत गलत है। शिक्षकों की कमी से निपटने हेतु कमेटी की एक रचनात्मक सिफारिश है कि 12वीं कक्षा उत्तीर्ण करने वाले अति मेधावी विद्यार्थियों को पांच वर्षीय एकीकृत कोर्स में भर्ती करके उन्हें अच्छे शिक्षक के रूप में तैयार करना चाहिए। सरकार को ऐसे विद्यार्थियों को पांच वर्षों तक पूर्ण वित्तीय मदद देनी होगी।

सुब्रमण्यम कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में उच्च शिक्षा की गुणवत्ता की जांच-पड़ताल और नियामक संस्थाओं के कामकाज पर भी अपनी राय दी है। पिछली राष्ट्रीय शिक्षा नीति में नेशनल एसेसमेंट ऐंड एक्रेडिटेशन कौंसिल, यानी नैक और नेशनल बोर्ड ऑफ एक्रेडिटेशन,

यानी एनबीए की स्थापना की गई थी, जिन्हें विश्वविद्यालयों व कॉलेजों की गुणवत्ता परखने का काम सौंपा गया था। देश के 40 हजार उच्च शिक्षा संस्थानों में से नैक अभी तक 6,446 कॉलेजों का ही एक्रेडिटेशन कर पाया है, जिसमें 253 विश्वविद्यालय शामिल हैं। चालू वर्ष में ऐसी 25 हजार संस्थाएं हैं, जिनका एक्रेडिटेशन किया जाना है। कमेटी का सुझाव है कि एक्रेडिटेशन अब हरेक संस्थान के लिए अनिवार्य होगा और हर संस्था का पांच वर्षों में एक बार एक्रेडिटेशन किया जाएगा। दूसरा सुझाव नैक और एनबीए का विलय करके नेशनल एक्रेडिटेशन बोर्ड (एनएबी) की स्थापना करने का है। तीसरा सुझाव एनएबी के अंतर्गत एक्रेडिटेशन की अनेक नई गैर सरकारी एजेंसियों को लाइसेंस देने का है। ये गैर सरकारी लाइसेंसधारी एजेंसियां पांच वर्ष में एक बार हर संस्थान की गुणवत्ता की व्यापक जांच-पड़ताल करेंगी। हर उच्च शिक्षण संस्थान को एक से सात रैंक में रखा जाएगा, जिसमें सातवीं रैंक सर्वोच्च क्वालिटी मानी जाएगी। पहली-दूसरी रैंक हासिल करने वाले संस्थानों को तीन वर्षों के अंदर तीसरी रैंक प्राप्त करनी होगी, वरना उनकी मान्यता रद्द कर दी जाएगी। सातवीं रैंक पाने वाले संस्थानों को सभी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त करते हुए पूर्ण स्वायत्तता दे दी जाएगी।

सुब्रमण्यम कमेटी ने इंडियन एजुकेशन सर्विस शुरू करने का महत्वपूर्ण सुझाव भी दिया है। कमेटी ने विश्वविद्यालय परिसरों में बढ़ रहे छात्र आंदोलनों, हिंसा और राजनीतिक हस्तक्षेप पर भी चिंता जताई है। लेकिन कमेटी यह बताने में असफल रही है कि उच्च शिक्षा में व्यापक सुधारों और उसकी कायापलट के लिए जरूरी वित्तीय संसाधन कैसे जुटाए जाएंगे? सिर्फ यह कहना काफी नहीं कि राष्ट्रीय आय का छह प्रतिशत शिक्षा पर और उसमें से 1.5 प्रतिशत उच्च शिक्षा पर खर्च करने से सारी समस्याएं हल हो जाएंगी। देश के कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों में पढ़ा रहे शिक्षाविदों को अब इन मुद्दों पर अपनी बेबाक राय देने के लिए आगे आना होगा।

(ये लेखक के अपने विचार हैं)

दैनिक जागरण

Date: 25-06-16

स्थिर आबादी की चुनौतियां

डॉ. विजय अग्रवाल

हाल ही में भारत के सैंपल रजिस्ट्रेशन सर्वे-2013 के द्वारा जारी किए गए कुल प्रजनन दर के आंकड़े देश को बहुत राहत पहुंचाने वाले हैं, बावजूद इसके कि इसकी अपनी नई चुनौतियां भी हैं। आजादी के अभी दो दशक ही बीते थे कि बढ़ती हुई जनसंख्या को देश की समस्त आर्थिक गतिविधियों के सकारात्मक परिणाम के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा माना जाने लगा था। उस समय देश की कुल प्रजनन दर (टोटल फर्टिलिटी रेट) 5.7 थी। फलस्वरूप 1965 में भारत परिवार नियोजन कार्यक्रम लागू करने वाला दुनिया का पहला देश बना। यहां तक कि इसकी आवश्यकता ने 1975 के आपातकाल के दौरान जिस अतिवादिता का रूप धारण कर लिया था, उसके नकारात्मक राजनीतिक परिणाम भारत के इतिहास की न भुलाई जा सकने वाली एक घटना बन गई।

अर्ध शताब्दी वाली इस लंबी योजना के बाद देश की जनसंख्या की लगाम अब हाथों में आ गई है। कुछ ही दिनों पहले पंजीयन महानिदेशालय के सर्वेक्षण से स्पष्ट हुआ है कि भारत की कुल प्रजनन दर 2.3 यानी कि प्रति महिला द्वारा 2.3 बच्चों को जन्म दिए जाने तक आ गई है। उल्लेखनीय है कि जब किसी भी देश की टीएफआर 2.1 पर आ जाती है तो वहां की जनसंख्या स्थिरता को प्राप्त कर लेती है। भारत को इस स्थिति को पाने में केवल 0.2 की कमी लानी होगी। वैसे यदि जनसंख्या के अन्य संकेतकों को देखें तो कहा जा सकता है कि

भारत इस दर को लगभग-लगभग पा ही चुका है। उदाहरण के तौर पर जन्म दर जिस गति से कम हो रही है, बाल-मृत्यु की दर उसी गति से कम नहीं हो रही है। अभी भी यह 1000 पर लगभग 37 है, जो बहुत अधिक है। कुछ राज्यों में तो यह 51 तक है। इस बारे में दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है टीएफआर के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र की दरें। भारत के ग्रामीण क्षेत्र की दर 2.5 है, जबकि शहरी क्षेत्र की 1.8। यह ब्रिटेन एवं अमेरिका की दर के लगभग-लगभग करीब है। गौर करने की बात यह है कि जितनी रफ्तार से गांवों का शहरों की ओर पलायन हो रहा है, उसे देखते हुए यह कहना गलत नहीं होगा कि बहुत जल्दी ही औसत दर 2.1 के करीब आ जाएगी। आने वाले बीस वर्षों के आंकड़े इससे भी नीचे जा सकते हैं, क्योंकि यह माना जा रहा है कि इस समय तक देश की लगभग चालीस प्रतिशत आबादी शहरों में रहने लगेगी। आंकड़ों की यह जानकारी भी कम महत्व की नहीं है कि उच्च शिक्षित वर्ग में तो प्रजनन दर कम हो ही रही है, यह प्रवृत्ति गरीब तथा अशिक्षित वर्ग में भी देखने को मिली है। दक्षिण भारत में प्रजनन दर पहले से ही कम है। अच्छी बात यह है कि अब यह ट्रेंड उत्तर तथा पूर्वी भारत में भी दिखाई देने लगा है। बिहार में यह सबसे अधिक 3.5 तथा उत्तर-प्रदेश में 3.1 पर आ गई है। सुखद समाचार यह है कि उड़ीसा जैसे आर्थिक रूप से पिछड़े तथा आदिवासी बहुल राज्य ने तो अपनी दर को 2.1 तक पहुंचाकर चौंका ही दिया है। दूसरी ओर थोड़ी चिंता की बात पश्चिम बंगाल की ओर से है। वहां यह दर मात्र 1.6 रिकार्ड की गई है।

भविष्य में प्रजनन दर में तेजी से गिरावट आने की संभावना पुरुष-स्त्री के अनुपात को लेकर भी व्यक्त की जा रही है, जो दुर्भाग्यपूर्ण होगा। लड़कियों का कम होता अनुपात इस दर को अव्यावहारिकता के स्तर पर लाकर जनसंख्या के लिए एक गंभीर चुनौती पेश कर सकता है। किंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि देश की जनसंख्या में वृद्धि होनी तुरंत ही रुक जाएगी । स्वास्थ्य सुविधाओं के कारण देश में मृत्यु दर में जो कमी आ रही है, वह जनसंख्या की वृद्धि दर को बनाए रखेगी। हां, उसकी रफ्तार थोड़ी कम जरूर हो जाएगी, जो होनी भी चाहिए। जाहिर है कि अब सरकार को अपनी सामाजिक नीतियों में काफी बदलाव करने चाहिए। अब उसे जनसंख्या नियंत्रण की बजाय मातृ मृत्यु तथा बाल मृत्यु को नियंत्रित किए जाने पर ध्यान देना होगा। यदि इनकी उपेक्षा की गई तो भारतीय समाज की संरचना असंतुलित और बेढंगी हो सकती है। वैसे भी इनका सीधा संबंध जहां स्त्री-पुरुष अनुपात से

है, वहीं जनसंख्या नियंत्रण से भी है। इसी से जुड़ी बात है-शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सेवाओं की। सरकारों को इनकी बेहतरी के लिए हर संभव उपाय करने होंगे। यदि ऐसा नहीं किया गया तो कुल जनसंख्या में तेजी से गिरावट आएगी, जो भविष्य के लिए खतरनाक हो सकती है। फिर सरकार को इसके लिए उल्टी दिशा में काम करना पड़ सकता है, 'जनसंख्या बढ़ाओ' की दिशा में। लगभग साल भर पहले चीन ने 'दो बच्चों' की स्वीकृति देकर ऐसा ही किया है। रूस और ब्राजील के साथ-साथ कई अन्य यूरोपीय देशों की यह दर स्थिर जनसंख्या की दर से भी कम चली गई है।

भारत आज जनसांख्यिकीय लाभांश की स्थिति में इसलिए है, क्योंकि आज हमारे पास कार्यशील लोगों की संख्या अधिक है। आठवें-नौवें दशक में चीन भी लगभग इसी स्थिति में था। डेमोग्रॉफिक डिविडेंट की यह स्थिति आगामी 40-45 वर्षों तक बनी रहेगी। स्पष्ट है कि उस समय देश की आबादी में वृद्धों की संख्या का प्रतिशत अधिक होगा। जापान इसका उदाहरण है। ऐसे में सरकार को चाहिए कि वह वृद्धों के स्वास्थ्य, पेंशन, देखभाल तथा अन्य जीवनगत आवश्यकताओं के बारे में अभी से विचार करे, ताकि अभी के युवा उस समय न तो स्वयं के लिए बोझ बनें और न ही समाज के लिए। इस बारे में एक मजबूत, व्यावहारिक तथा दीर्घकालिक नीति की अभी ही आवश्यकता है। यद्यपि जनसंख्या के स्वरूप में धीरे-धीरे ही परिवर्तन होता है, लेकिन एक बार स्वरूप ग्रहण कर लेने के बाद यह अत्यंत शक्तिशाली हो जाता है। देश पर इसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। इसलिए अभी से ही सतर्क होना जरूरी है।

[लेखक पूर्व प्रशासनिक अधिकारी हैं]

Date: 25-06-16

प्रशासनिक सुधार का वक्त

विचार पर्याप्त नहीं होता। उनका क्रियान्वयन ही परिणामदायी होता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी को बातूनी कहने वाले लोग निराश हो रहे हैं। प्रधानमंत्री जो कह रहे हैं वही करके भी दिखा

रहे हैं। मोदी सरकार ने आर्थिक सुधारों के काम में नई छलांग लगाई है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए तमाम नियमों और शर्तों में ढील देने का संदेश सारी दुनिया में गया है। इस फैसले से सरकार ने आर्थिक सुधारों की प्रतिबद्धता भी व्यक्त की है। ऊंची विकास दर के बावजूद सरकार का यह कदम प्रशंसनीय है, लेकिन प्रत्यक्ष विदेशी निवेश सहित सरकार की सभी नीतियों और संकल्पों का क्रियान्वयन प्रशासन तंत्र को ही करना है। प्रशासन तंत्र ही लोक कल्याणकारी कामों का लाभ आमजनों तक ले जाता है। मोदी ने बेशक प्रशासन तंत्र को सक्रिय किया है। कामटालू प्रशासनिक लत भी घटी है, पर प्रशासन तंत्र की प्रकृति और प्रवृत्ति में मूलभूत बदलाव नहीं आया है। प्रधानमंत्री नीति और निर्णयों में तेज रफ्तार गतिशील हैं। वह सारी कार्यसंस्कृति बदल रहे हैं। बावजूद इसके प्रशासन तंत्र की गति ढीली है। राज्यों का प्रशासन केंद्र के निर्णयों और कार्यक्रमों के प्रति उदासीन रुख अपना रहा है। सभी सुधारों का अंतिम उपकरण प्रशासन तंत्र है। सो आर्थिक सुधारों के साथ प्रशासनिक सुधारों की भी फौरी आवश्यकता है।

उत्कृष्ट, निष्ठावान और कार्यकुशल प्रशासन आधुनिक भारत की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। हमारे संविधान तंत्र में सरकारें जवाबदेह हैं और जनप्रतिनिधि भी, लेकिन प्रशासन तंत्र की कोई जवाबदेही नहीं। प्रशासन तंत्र की ढिलाई और भ्रष्टाचार का खामियाजा निर्वाचित सरकारों को भुगतना पड़ता है। प्रशासन तंत्र संवेदनहीन और निष्क्रिय है और सरकारें सक्रिय। भारतीय प्रशासन का इतिहास पुराना है। यहां के प्राचीन प्रशासन की प्रशंसा फाह्यान ने भी शासन प्रबंध सुव्यवस्थित, उदार और सौम्य बताकर की है। मौर्यकाल (340 ईसा पूर्व) में भी सुगठित राष्ट्रनिष्ठ शासन तंत्र था। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में प्रशासन तंत्र का खूबसूरत विवरण है। सिंधुघाटी सभ्यता (2200 ईसा पूर्व से 1750 ईसा पूर्व तक) के प्रशासन को ह्वीलर और पिगाट जैसे विद्वानों ने भी सुगठित बताया है। अंग्रेजी शासकों ने अपने साम्राज्य को मजबूत करने का प्रशासन तंत्र बनाया था। अंग्रेज सरकारों ने भी समय-समय पर प्रशासनिक सुधारों के लिए कई आयोग बनाए थे। प्रशासन ही सत्ता चलाने का उपकरण था। वे प्रशासनिक सुधारों पर सजग थे, लेकिन स्वतंत्र भारत में लंबे समय तक सत्ता में रही कांग्रेस ने प्रशासनिक सुधारों पर कोई ठोस काम नहीं किया। प्रशासन परम स्वतंत्र होने की स्थिति का उपभोग करता आया है।

संविधान की उद्देशिका और नीति निदेशक तत्व सरकार और प्रशासन तंत्र के मार्गदर्शी हैं। वे सुस्थापित विधि नहीं, बल्कि सरकार और प्रशासन के कामकाज की आत्मा है। प्रशासन तंत्र इन सूत्रों से नहीं जुड़ता। स्वतंत्र भारत (1951) में प्रशासन की कार्यशैली पर एनडी गोरेवाला की रिपोर्ट 'लोक प्रशासन पर प्रतिवेदन' नाम से आई। रिपोर्ट के अनुसार कोई भी लोकतंत्र स्पष्ट, कुशल और निष्पक्ष प्रशासन के अभाव में सफल नियोजन नहीं कर सकता। इस रिपोर्ट में अनेक उपयोगी सुझाव थे, लेकिन क्रियान्वयन नहीं हुआ। 1952 में क्केंद्र ने प्रशासनिक सुधारों पर विचार करने के लिए पाल एपिलबी की नियुक्ति की। उन्होंने 'भारत में लोक प्रशासन सर्वेक्षण का प्रतिवेदनÓ प्रस्तुत किया। रिपोर्ट में अनेक महत्वपूर्ण सुझाव थे, लेकिन जड़ता नहीं टूटी। स्वाधीनता के 19 बरस बाद पहला प्रशासनिक सुधार आयोग (1966) बना। मोरारजी देसाई अध्यक्ष थे, वह मंत्री हो गए। आयोग ने हनुमंतैया की अध्यक्षता में काम बढ़ाया। आयोग का पहला प्रतिवेदन नागरिकों की व्यथा दूर करने की समस्या शीर्षक से 20 अक्टूबर 1966 में आया। प्रशासन बनाम आमजन की व्यथा से पूरा देश पीड़ित है, लेकिन इस महत्वपूर्ण बिंदु की उपेक्षा हुई। आयोग ने केंद्रीय प्रशासन और राज्य प्रशासन पर अलग-अलग सुझाव दिए। रिपोर्ट में आर्थिक नियोजन को आर्थिक प्रशासन के रूप में पहचानने के भी उल्लेख थे।

प्रशासन का रूप रंग और कार्य व्यवहार जस का तस बना रहा। पहले प्रशासनिक सुधार आयोग की रिपोर्ट (1970) के 35 साल बाद सितंबर 2005 में वीरप्पा मोइली की अध्यक्षता में दूसरा प्रशासनिक सुधार आयोग बना। मोइली ने 2009 में पद त्यागा। इस आयोग ने भी केंद्रीय प्रशासन के ढांचे के साथ राज्य प्रशासन पर भी सिफारिशें कीं। जिला प्रशासन को सक्षम बनाने की भी महत्वपूर्ण संस्तुतियां कीं। इस रिपोर्ट में आतंकवाद की चुनौती पर भी सुझाव थे। मनरेगा के क्रियान्वयन की भी शल्य परीक्षा थी। समूची रिपोर्ट पर मंत्रियों के समूह को विचार का काम सौंपा गया। आयोग की सिफारिशों के अंत में कहा गया था, सरकार के दृष्टिकोण में आवंटन आधारित विकास कार्यक्रमों से पात्रता आधारित विकास कार्यक्रमों की ओर अंतरण हुआ है। सभी क्षेत्रों में विकास पर जोर है। केंद्रीय बजट बढ़ा है। इस सबके कारण संस्थागत प्रशासनिक और वित्तीय प्रबंधन का सुदृढ़ीकरण जरूरी है। यहां विकास के सभी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के लिए प्रशासनिक प्रबंधन पर जोर है, लेकिन

असली दिक्कत दूसरी है। सभी कार्यक्रमों को अंतिम परिणति तक पहुंचाने वाले प्रशासन तंत्र की प्रथम वरीयता परिणाम देना नहीं, अपितु अपनी सेवा सुरक्षा है।

संविधान विशेषज्ञ मंत्रिपरिषद को अस्थाई और प्रशासन को स्थाई सरकार कहते हैं। यह उचित भी है। सरकारें दंगा-फसाद नहीं चाहतीं, लेकिन वास्तविक क्रियान्वयन की शक्ति प्रशासन में निहित है। सरकारें पेयजल की समस्या पर बजट देती हैं। हैंडपंप या अन्य व्यवस्था प्रशासन के हाथ में है। उप्र सरकार के अंतिम बजट के दौरान पहले बजट का बड़ा भाग खर्च नहीं हुआ। प्रशासन तंत्र चाहता तो खर्च हो जाता। योजनाएं बनती हैं, क्रियान्वित नहीं होतीं। उत्तरदायित्व किसका? प्रधानमंत्री ने युवा रोजगार की तमाम योजनाएं घोषित कीं, लेकिन तमाम बैंक अधिकारियों ने बेरोजगारों को टाल दिया। कई राज्यों में प्रशासन का भयावह राजनीतिकरण हुआ है।

प्रधानमंत्री विलक्षण स्वप्नद्रष्टा हैं। केंद्र की नीति और नीयत की प्रशंसा हो रही है। नीति और नीयत को क्रियान्वित करने वाले मुख्य उपकरण प्रशासन की जड़ता और यथास्थितिवादी चरित्र में बदलाव का भी यही सही समय है। प्रशासन को नए आर्थिक सुधारों के क्रियान्वयन का सक्रिय उपकरण बनाना ही होगा। इसी तरह समाज कल्याण से जुड़ी योजनाओं, कृषि, स्वरोजगार और गरीबी से संघर्ष के काम में ढिलाई करने वाले प्रशासन तंत्र की मनोदशा में बदलाव जरूरी हो गया है। भारत की चुनौतियां सर्वथा नई हैं। नई चुनौतियों के बरक्स प्रशासन के सामने भी चुनौतियों का नया स्वरूप आया है। इसलिए भारत को अब तीसरे प्रशासनिक सुधार आयोग की आवश्यकता है। प्रशासनिक सुधारों के अभाव में इच्छित लक्ष्य प्राप्त करना बहुत कठिन हो गया है।

[लेखक हृदयनारायण दीक्षित, उप्र विधान परिषद में भाजपा के नेता हैं]

दैनिक भास्कर

Date: 25-06-16

कोई फैसला न दे, सिर्फ श्रेणी तय करे सेंसर बोर्ड

'उड़ता पंजाब' पर विवाद से एक सवाल पैदा हुआ है : क्या भारत को किसी फिल्म की सामग्री पर निगरानी रखने के लिए किसी बोर्ड की जरूरत है? पिछले एक साल में हम कई फिल्मों में काफी कतरब्योत देखने को मिली है। जेम्स बॉन्ड की 'स्पेक्टर' में किसिंग के दृश्य काट दिए गए। क्वेंटिन टैरैनटिनो की 'द हेटफूल एट' की तरह फिल्मों में अपशब्दों को म्यूट कर दिया जाता है या हटा दिया जाता है। यह सब देश को नैतिक दुराचार से बचाने के नाम पर किया जाता है।

यदि यही उद्देश्य है तो फिल्म प्रमाणन बोर्ड (सीबीएफसी) भारतीय दर्शक की उभरती मानसिकता समझने में नाकाम रहा है। 'गेम ऑफ थ्रोन्स' की हिंसा व नग्नता से लेकर 'डेडपूल' एवं 'ब्रेकिंग बैड' जैसी लोकप्रिय

फिल्मों व टीवी शो में आम बातचीत की तरह दर्शक अपशब्द झेलते रहे हैं। 'गैंग्स ऑफ वासेपुर' और 'गंगाजल' जैसी कल्ट फिल्मों में अपशब्दों का उपयोग ताकतवर संदेश देने में किया गया। जब औसत भारतीय युवा एक क्लिक पर कोई भी दृश्य देखने में सक्षम हो तो नैतिकता के प्रहरी के रूप में सेंसर बोर्ड की भूमिका कालबाह्य हो गई है।

दरअसल, फिल्में मूलत: एक विचार होता है, जिसे फिल्मकार अपने सर्वश्रेष्ठ तरीके से अभिव्यक्त करता है। इससे कुछ दर्शकों को धक्का लग सकता है, लेकिन इसका फैसला तो पैसे देकर अपने पसंदीदा हीरो-हिरोइन को बड़े परदे पर देखने की ख्वाहिश रखने वाले दर्शक ही कर सकते हैं। 18 से ऊपर की उम्र का वोट देने वाला, कर भरने वाले दर्शक को जो वह चाहे वह देखने की छूट होनी चाहिए। वक्त की मांग तो यही है कि बोर्ड प्रमाण का

निर्धारित काम ही करे कि फिल्म यू श्रेणी अर्थात हर वर्ग के दर्शक के देखने लायक है अथवा वयस्कों के निगरानी में देखे जाने की या सिर्फ वयस्कों के देखने लायक है। वह फिल्म पर कोई वेल्यू जजमेंट या कटेंट की प्रकृति पर कोई फैसला न दे। हमें फिल्मकारों को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति की सीमाएं फैलाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए और 'उड़ता पंजाब' पर फैसला उस दिशा में एक कदम है।

बालाजी रामचंद्रन, 23
इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट, अहमदाबाद

Date: 25-06-16

एकजुट यूरोप का सपना भंग करता ब्रिटेन

ब्रिटेन अब यूरोपीय संघ से अलग हो गया है। यह फैसला न तो यूरोपीय संघ के 28 सदस्य-राष्ट्रों ने किया है और न ही ब्रिटेन की सरकार ने। यह फैसला किया है, ब्रिटेन की जनता ने। 48 प्रतिशत मतदाता चाहते थे कि ब्रिटेन यूरोपीय संघ में बना रहे, लेकिन 52 प्रतिशत मतदाताओं ने उससे बाहर निकलने का समर्थन कर दिया। सिर्फ चार प्रतिशत मतदाताओं ने बाजी पलट दी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री डेविड केमरन ने पूरी ताकत झोंक दी, इसके बावजूद जनता ने यूरोपीय संघ छोड़ने का फैसला कर लिया। इसका नतीजा क्या हुआ? जैसे ही जनमत-संग्रह के परिणाम सामने आए, प्रधानमंत्री ने इस्तीफे की घोषणा कर दी। उनके विरोधी भी हिल गए। वे आग्रह कर रहे हैं कि प्रधानमंत्री पद पर बने रहें और यूरोपीय संघ को ब्रिटेन को बाहर निकालने की प्रक्रिया का संचालन करें, लेकिन स्वाभिमानी केमरन कह रहे हैं कि अब नई स्थिति को संभालने के लिए नया प्रधानमंत्री ही चुना जाना चाहिए।

इस जनमत-संग्रह का जबर्दस्त असर हुआ है। ब्रिटिश मुद्रा का जितना तगड़ा अवमूल्यन आज हुआ है, पिछले 31 साल में कभी नहीं हुआ। भारत का सेंसेक्स 1000 अंक नीचे ढह गया। कई अन्य देशों की मुद्राएं भी नीचे लुढ़क गई हैं। यूरोपीय संघ के बाकी 27 सदस्यों में भी उहा-पोह शुरू हो गई है। इटली, हॉलैंड, फ्रांस, डेनमार्क आदि देशों के तथाकथित राष्ट्रवादी

तत्व मांग करने लगे हैं कि वे भी जनमत-संग्रह करवाएं और यूरोपीय संघ छोड़ें। पहले भी कुछ देशों ने यूरोपीय संघ की सदस्यता छोड़ी है, लेकिन वह छोड़ना छोटा-मोटा धक्का था। ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से निकलना भूकंप की तरह है। अब स्काॅटलैंड दुबारा जनमत-संग्रह की मांग करने लगा है। वह ब्रिटेन को छोड़कर यूरोपीय संघ में शामिल होना चाहता है। ब्रिटेन के निकलने ने यूरोपीय संघ की मूल अवधारणा पर भी प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। इतना ही नहीं, दुनिया के अन्य महाद्वीपों में बने क्षेत्रीय संगठनों के भविष्य के बारे में भी शक पैदा होने लगा है।

जिन कारणों से ब्रिटेन अलग हो रहा है, उन्हीं कारणों से ऐसे क्षेत्रीय संगठनों से अन्य सबल राष्ट्रों को भी अलग होना पड़ सकता है। अभी तो हमारा दक्षेस (सार्क) लंगड़ा है। वह यूरोपीय संघ बनने से काफी दूर है, लेकिन उसमें भारत की स्थिति काफी मजबूत है। यूरोपीय संघ में जितनी ब्रिटेन की स्थिति है, उससे कहीं ज्यादा मजबूत। किंतु जैसे ब्रिटेन को यूरोपीय संघ छोड़ना पड़ रहा है, क्या भारत को भी दक्षेस छोड़ना पड़ सकता है? यह भयावह संभावना मुझे तभी से व्यथित कर रही है, जबसे ब्रिटिश जनमत-संग्रह की बात मैंने सुनी है। ब्रिटेन ने यूरोपीय संघ आखिर क्यों छोड़ा, यह सवाल सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

यूरोपीय संघ की स्थापना 1957 में हुई थी और ब्रिटेन इसमें 1973 में शामिल हुआ। 16 साल तक वह शामिल क्यों नहीं हुआ? क्योंकि वह अपने आपको यूरोपीय नहीं मानता। उनसे अलग और ऊपर मानता रहा है। शामिल होने के बावजूद उसने 'यूरो' मुद्रा को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया। उसने पाउंड को ही अपनी मुद्रा बनाए रखा। इसी तरह अन्य सदस्य-राष्ट्रों की तरह शेन-जेन वीज़ा के आधार पर उसने अपने देश में मुक्त यात्रा की सुविधा नहीं दी। 1975 में भी मांग उठी थी कि ब्रिटेन यूरोपीय संघ छोड़े, लेकिन प्रधानमंत्री हेराल्ड विल्सन को जनमत-संग्रह में 67 प्रतिशत लोगों ने समर्थन दिया और ब्रिटेन यूरोपीय संघ में टिका रहा। किंतु अब केमरन के जमाने में 43 साल के अनुभव ने ब्रिटिश जनता का मोहभंग कर दिया। यूरोपीय संघ में पूर्वी यूरोप के लगभग दर्जन भर देश आ मिले। इन देशों का जीवन-स्तर पश्चिमी यूरोपीय देशों के मुकाबले बहुत नीचा था। संघ में मिलने वाली छूट का फायदा उठाकर लाखों पूर्वी यूरोपीय मजदूर ब्रिटेन में भरा गए। ब्रिटेन के अपने मजदूरों के रोजगार छिनने लगे, जीवन-स्तर गिरने लगा और अपराध बढ़ने लगे। आतंकियों को ब्रिटेन में डेरा

जमाने की सुविधा मिल गई। यूरोपीय संघ के कानूनों को ब्रिटिश व्यापार, खेती, कारखानों और मछली-संग्रह आदि पर लागू करने पर ब्रिटेन को काफी नुकसान होने लगा था। ब्रिटेन इस संघ का दूसरा सबसे मालदार और शक्तिशाली देश है। वह सांस्कृतिक दृष्टि से अपने आप को सर्वश्रेष्ठ समझता है। यदि वह यूरोपीय संघ पर निर्भर रहा है तो यूरोपीय संघ भी उस पर निर्भर रहा है। उसका 45 प्रतिशत व्यापार संघ के साथ होता है। अभी-अभी दोनों का अलगाव ब्रिटेन के लिए काफी हानिकर होगा, ऐसा लगता है पर धीरे-धीरे स्थिति सामान्य होती जाएगी, क्योंकि सभी यूरोपीय देश ब्रिटेन के साथ अपनी द्विपक्षीय संबंधों की पुनर्परिभाषा में जुट जाएंगे। इसी स्थिति को ये देश यूरोपीय सपने का भंग होना मान रहे हैं।

क्या कभी भारत के साथ भी यही हो सकता है? क्यों नहीं? यूरोपीय संघ में तो ब्रिटेन की टक्कर के दो देश हैं- फ्रांस और जर्मनी, लेकिन भारत की टक्कर में कौन है? अकेला भारत दक्षेस के अन्य सातों देशों को मिला दें तो उनसे भी बड़ा है। पूरे दक्षिण एशिया में कहीं कुछ बवाल होता है, चाहे बांग्लादेश हो, म्यांमार हो, श्रीलंका हो, अफगानिस्तान हो, लाखों लोग जबर्दस्ती भारत में घुसे चले आते हैं। यदि यूरोपीय संघ की तरह दक्षेस-राष्ट्रों में वीज़ा हट जाएं, नौकरियां खुल जाएं, आवागमन मुक्त हो जाए तो यह भय तो है ही कि भारत करोड़ों शरणार्थियों से पट सकता है। ऐसे में भारत क्या करेगा, इस प्रश्न पर सोचने का मसाला हमें ब्रिटेन ने अभी से दे दिया है। शायद ऐसी नौबत न आए, क्योंकि यूरोप के देशों में कच्चा माल नहीं है और उनकी जमीन भी छोटी है, जबकि दक्षिण एशिया और मध्य एशिया के राष्ट्रों के पास अथाह कच्चा माल है और उनके पास इतनी ज्यादा खाली जमीन पड़ी हुई है कि वहां वे लाखों नहीं, करोड़ों नए आगंतुकों को बसा सकते हैं और उन्हें रोजगार दे सकते हैं।

यूरोपीय संघ से ब्रिटेन के अलग होने का भारत पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इस प्रश्न पर अभी तक गहरी पड़ताल नहीं हुई है। उसका कारण है। भारत का दोनों से ही अच्छा संबंध है। ब्रिटेन में लगभग 30 लाख भारतीय मूल के लोग रहते हैं। लाखों भारतीय वहां पर्यटक, छात्र, व्यापारी आदि के तौर पर जाते रहते हैं। यूरोप से ज्यादा। ब्रिटेन में भारत की 800 से ज्यादा कंपनियां सक्रिय हैं। यूरोप में जितनी हैं, उनसे कहीं ज्यादा। अंग्रेजी में काम करने पर उन्हें ज्यादा सुविधा होती है। अब उन्हें अपने दफ्तर शायद यूरोप में खोलने पड़े। यों भी ब्रिटेन को

यूरोपीय संघ से अलग होने में अभी कम से कम दो साल लगेंगे। इस अवधि में भारतीय हित-रक्षा का समुचित प्रबंध हो जाएगा। भारत को अभी थोड़ी और दूरंदेशी से काम लेना होगा। अभी तो सिर्फ ब्रिटेन टूटा है, कल इटली, फ्रांस और जर्मनी आदि देश भी अलग होने लगे तो भारत की नीति क्या होगी? यूरोपीय संघ के अध्यक्ष डोनल्ड टस्क की यह चेतावनी ध्यान देने लायक है कि 'ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से अलग होना, न केवल यूरोपीय संघ के विसर्जन की शुरुआत हो सकता है बल्कि पश्चिमी सभ्यता के विनाश का प्रारंभ हो सकता है।' यह प्रतिक्रिया जरा भावुकताभरी है, लेकिन इसमें शक नहीं है कि रूस के ब्लादिमीर पुतिन से ज्यादा खुश आज कौन होगा?

Date: 25-06-16

भारत के लिए एनएसजी नियमों में ढील पाना आसान नहीं

यह तो नहीं कहा जा सकता कि न्यूक्लियर सप्लायर्स ग्रुप (एनएसजी) में प्रवेश पाने का प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का सारा प्रयास विफल हो गया, लेकिन यह जरूर है कि अभी चीन ने नियम का हवाला देकर भारत का दाखिला रोक दिया है। यह दिक्कत भारत के सिद्धांत और व्यवहार में अंतर रहने के कारण उपस्थित हुई है। अहिंसा में आस्था रखने और एटमी हथियार न बनाने का संकल्प लेने वाले भारत ने जब पहली बार परमाणु विस्फोट किया तो उसकी नाकेबंदी करने के लिए ही 1974 में एनएसजी का गठन हुआ और आज अगर भारत उसी संगठन का सदस्य बनना चाह रहा है तो यह अपने आप में अंतरराष्ट्रीय नाभिकीय सिद्धांत और व्यवहार में मौलिक परिवर्तन करने जैसा है। किंतु खुशी की बात यह है कि भारत वैसा करने के करीब पहुंच रहा है। 48 सदस्यीय एनएसजी में 38 देश स्पष्ट तौर पर भारत के पक्ष में हैं, जबकि चीन के साथ अन्य नौ देशों के विरोध और ना-नुकुर के चलते भारत के इस अभियान को झटका लगा है।

ताशकंद में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की चीनी राष्ट्रपति शी जिंगपिंग से मुलाकात का भी फायदा नहीं हुआ, क्योंकि चीन अपने रवैए को नियम सम्मत बता रहा है। उसका कहना है कि अगर भारत को नियमों का अपवाद बनाया गया तो दक्षिण एशिया में शक्ति संतुलन बिगड़ जाएगा। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी के कार्यकाल में 1996 में दूसरा परमाणु विस्फोट करके भारत ने जब कई प्रकार की पाबंदियों का सामना किया और उसे तोड़ने में अमेरिकी नागरिक परमाणु संधि के साथ कामयाबी मिली, तब भी चीन संधि के विरुद्ध था। उसने यही सवाल उठाया था कि अगर अमेरिका भारत के साथ ऐसी संधि कर सकता है तो पाकिस्तान के साथ क्यों नहीं, लेकिन बाद में चीन इस मोर्चे पर परास्त हुआ। भारत ने पाकिस्तान की तुलना में अपने को एक जिम्मेदार एटमी शक्ति के रूप में प्रमाणित किया और इसी का परिणाम है कि अमेरिका और उसके समर्थक देश भारत को एनएसजी में शामिल करने के पक्ष में खड़े हैं। बस यहां एनपीटी के हस्ताक्षरी होने का नियम आड़े आ रहा है। भारत तेजी से उभरती हुई आर्थिक शक्ति है; इसलिए उसकी लंबी उपेक्षा तो संभव नहीं है, लेकिन सवाल समय रहते उद्देश्य पूरा होने का है। अब भारत के पास यही उपाय है कि वह चीन को विश्वास में लेने की कोशिश जारी रखते हुए ब्राजील, ऑस्ट्रिया, न्यूजीलैंड और तुर्की जैसे देशों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करें, क्योंकि इस समूह का सदस्य बने बिना भारत का एटमी ऊर्जा का सपना अधूरा रह जाएगा।